बालक के प्रश्न में सहज उद्‌भूत होती है और जो उसकी आँख की उस चमक में दिखाई देती है जब वह संसार को विस्मय की दृष्टि से देखता है! मनुष्य ने जो ज्ञान अर्जित किया है उसके पीछे उसकी अनन्त साधना है, लेकिन उसको फिर साधना के रूप में कैसे प्रस्तुत किया जाये? शायद, शिक्षा के सामने यही सबसे बड़ा प्रश्न है।

शिक्षा को इस प्रकार से देखने पर वह मनुष्य के समूचे, सामूहिक पुरुषार्थ के रूप में दिखाई देने लगती है, जिसका एक ओर केन्द्र जहाँ 'व्यक्ति' है वहीं दूसरी ओर उसका केन्द्र मनुष्य के इतिहास के उस छोर से बँधा प्रतीत होता है जिसका काल में कोई निश्चित अन्त दिखाई नहीं देता। इसको थोड़ा इस तरह से भी देखें कि जो आज का शिक्षार्थी है वह जब कल का शिक्षक बनेगा तो शिक्षा में अन्तर्भूत उस सहज भ्रम का भी कुछ निवारण हो सकेगा जो सदैव शिक्षक के अहं को परिपोषित करता आया है। मनुष्य के केन्द्र में अगर शिक्षा देना और शिक्षित होना अनिवार्य है तो फिर क्या 'सत्' के स्वरूप को भिन्न प्रकार से नहीं समझना होगा? 'सत्' तब वह नहीं होगा जो है, या जिसके सदैव होने की बात की जाती है, बल्कि वह होगा जो सदैव नये रूपों की प्रतीक्षा करता है और जिसे सदैव नया रूप दिया जा सकता है। प्रतिभा का एक लक्षण परम्परा ने यह दिया है कि प्रतिभा वह है जो नित्य नवोन्मेषशालिनी हो। वास्तव में यह लक्षण प्रतिभा का नहीं चेतना का है, या दूसरी तरह से कहें तो 'सत्' का, जो चेतना का ही दूसरा नाम है।

सत् को चेतना से अलग करके देखना मनुष्य की सबसे बड़ी भूल है और चेतना को उस कारयित्री प्रतिभा से अलग करके केवल शुद्ध ज्ञान के रूप में देखना शायद उससे भी बड़ी भूल है। सत् के स्वरूप को इस नयी तरह से समझे बिना न हम पुरुषार्थ को समझेंगे, न शिक्षा को, न चेतना को, न प्रतिभा को। इन्हीं के भीतर और इन्हीं के बीच नये सम्बन्धों की खोज 'शिक्षा' को वह नया आयाम दे पायेगी जो शायद मनुष्य की चेतना में नये पुरुषार्थों को जन्म देगी, नये उत्साह का सृजन करेगी और प्राणों में उस नये स्पन्दन या नयी 'सिहरन' को पैदा करेगी जिसके बिना जीना सदैव अर्थहीन लगता है।

❑

साहित्य और दर्शन

साहित्य सामान्य चेतना की वह सृजनशीलता है जो भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त होती है और उसी माध्यम को आधार बनाकर अपनी संरचना करती है। दर्शन इसके विपरीत भाषा का प्रयोग तो करता है पर उसका केन्द्र-बिन्दु चेतना की वह प्रक्रिया है जिसको हम विमर्श का नाम देते हैं और जो प्रत्ययों को आधार बनाकर चलती है। यह ठीक है कि प्रत्यय भी भाषा का आधार लेते हैं और भाषा ही के द्वारा अभिव्यक्त होते हैं पर प्रत्ययों का जगत् भाषा को छूता जरूर है लेकिन बहुत हद तक उससे स्वतंत्र भी होता है। प्रत्ययों के जगत की संरचना और उसकी समस्याएँ एक प्रकार से दर्शन का प्राण है जबकि साहित्य की सृजनात्मक प्रक्रिया प्राय: प्रत्ययों से दूर रहकर बिम्ब को अपना आधार बनाती है और उसके द्वारा अपने जगत की संरचना करती है। चेतना का वह आयाम जो साहित्य में अभिव्यक्त होता है, उससे भिन्न है जो दर्शन में अभिव्यक्त होता है। साहित्य की सृजनचेतना जीवन के प्रति उन्मुख ही नहीं होती बल्कि उसके अनेक आयामों में सहज आनन्द भी लेती है, और उनसे ऐसा भावात्मक सम्बन्ध स्थापित करती है जिसमें केवल प्राण का स्पन्दन ही नहीं होता, बल्कि मानवीय चेतना उसमें अपने अनेक रूपों में प्रतिबिम्बित होती है और इसीलिए मनुष्य उसमें अपने को ही, अनेक प्रकार से, जीवन्त होता हुआ दिखाई देता है।

दर्शन में, इसके विपरीत, मानवीय सम्बन्ध तो क्या मनुष्य का सारा भावनात्मक जगत् एक प्रकार से अछूता रह जाता है। विचार केन्द्रित होने के कारण, वह मनुष्य के ज्ञानात्मक पक्ष की ओर अधिक उन्मुख होता है और मनुष्य को उसका ऐसा रूप दिखाता है कि वह एक ऐसा प्राणी है 'जो वास्तव में क्या है', वह जानने की सतत् प्रक्रिया में संलग्न है और जहाँ कोशिश यह है कि किसी भी ज्ञान को किस प्रकार संदेह के 'भय' से बचाया जा सके। 'कहीं मैं भ्रम में ही तो नहीं हूँ' यह शंका छाया की तरह सदैव ज्ञान को घेरे रहती है और उसके आगे एक प्रश्नचिह्न लगाती रहती है। इसीलिए दर्शन का केन्द्र बिन्दु प्रमाण-प्रमेय व्यापार है। किसी युक्ति से क्या सिद्ध होता है और क्या नहीं, यह दार्शनिक के लिए सदैव चिन्तन और चिन्ता दोनों का विषय बना रहता है। दार्शनिक वृत्ति हमेशा सवाल ही नहीं पूछती पर, जो भी कथन उसके सामने आता है उसके बारे में वह सदैव

शंकाशील रहती है और यह पूछती है कि यह युक्तिसंगत है या नहीं, जो तर्क दिए गए हैं उनके आधार पर यह सिद्ध होता है या नहीं। इसीलिए तर्कशास्त्र की स्वतंत्र रचना होती है जो एक प्रकार से दर्शन का प्राण है, जबकि इसके विपरीत साहित्य अलंकारशास्त्र और रसशास्त्र को जन्म देता है। बुद्धि के लिए 'अलंकार' भूषण न होकर 'दूषण' ही होते हैं और जब भी कोई दार्शनिक उनका प्रयोग करता है तो यह उसकी कमजोरी ही मानी जाती है और ऐसा समझा जाता है कि वह अपने विचार की कमजोरी छिपाने के लिए ही ऐसा कर रहा है और जहाँ तक रस का सम्बन्ध है यदि वह शुद्ध तर्क-बुद्धिजन्य न हो, तो दूषित ही माना जाएगा।

भावना जगत् को नकारने के साथ ही दार्शनिक दृष्टि मनुष्य के आपसी सम्बन्धों को गौण मानती है क्योंकि उन सम्बन्धों का आधार भावनात्मक ही होता है और उनमें व्यक्ति-व्यक्ति के बीच सम्बन्ध उनके वैशिष्ट्य के आधार पर ही होते हैं। हमारी किसी से मित्रता इसलिए होती है कि 'वह' वह है और कोई अन्य नहीं। यही बात स्नेह आदि के सम्बन्ध में भी उतनी ही या उससे भी अधिक सत्य होती है जितनी मित्रता के बारे में और जहाँ तक पिता-पुत्र, भाई-बहिन आदि के सम्बन्धों का प्रश्न है वह तो इसी पर आधारित होते हैं कि अमुक उसका पुत्र है या मेरा पति या मेरा भाई या मेरी बहिन। बुद्धि तो ऐसे सम्बन्धों की तलाश करती है, और उसकी खोज ऐसे तत्त्वों के बारे में होती है जो सार्वजनीन हो, या जिनका किसी व्यक्ति के अपने वैशिष्ट्य से कोई खास सम्बन्ध नहीं है। इसीलिए जो रागात्मक या भावात्मक सम्बन्धों का प्राण है और जिसके सहारे ही साहित्य चलता है, दर्शन उसको नजरअंदाज ही नहीं करता बल्कि अधिकतर उसकी भूमिका को भी इसी रूप में देखता है जैसे कि वह ज्ञान की खोज में बाधक है।

यह ठीक है कि भावना जगत् में 'धर्म' को लेकर ऐसे नियमों की तलाश होती है जो सार्वभौमिकता लिए हुए होते हैं और जो भावना जगत् के विशिष्ट सम्बन्धों का नियमन करने की कोशिश करते हैं। इसलिए धर्म मानवीय सम्बन्धों को आदर्श रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा करता है। धर्म कहता है, भाई हो तो भरत जैसा, पुत्र हो तो श्रवणकुमार जैसा, पति-पत्नी का सम्बन्ध हो तो सत्यवान-सावित्री जैसा या नल-दमयंती जैसा, आदि-आदि। पर धर्म का यह आदर्शोन्मुख नियमन भावना को मुश्किल से स्वीकार होता है और साहित्य की रचना तो इस अस्वीकारने में ही निहित होती है। 'परकीया' और जिसे मुकुन्द लाठ ने 'परकीय प्रेम' कहा है, वह इसका चिरन्तन उदाहरण है। विरह में ही प्रेम की पराकाष्ठा होती है, ऐसा साहित्य को पढ़ने वाले सब जानते हैं। पर वे कभी यह नहीं सोचते कि पति-पत्नी में विरह की संभावना तो बहुत कम ही होती है और फिर भी 'धर्म' स्त्री-पुरुष के भावनात्मक सम्बन्ध की परिणति वैवाहिक जीवन में दिखाता है और सभी धर्म विवाह के बाहर 'प्रेम' की निन्दा करते हैं। यही नहीं, कुछ प्रकार के प्रेमियों को इस जगत् में और किसी दूसरे लोक के नरक में अनेक यातनाएँ देने

का भी प्रावधान धर्म के मानने वाले लोगों ने हमेशा किया है। पर साहित्य तो इसी 'प्रेम' पर जिन्दा है और विरह-मिलन का खेल तो उसका केन्द्र बिन्दु है। फिर भी, अगर साहित्य 'धर्म' की चर्चा कभी करता भी है तो केवल धर्म संकट के सम्बन्ध में, जैसे महाभारत, रामायण में अनेक बार दिखाया गया है कि धर्म का संकट एक बात है और भावना का संकट, दूसरी बात; हालांकि दोनों में कभी-कभी एक दूसरे से सम्बन्ध भी स्थापित होते हैं।

'धर्म' भी एक प्रकार की भावनाओं को, विशेषकर उनके वैशिष्ट्य रूप को नकारने की कोशिश है, क्योंकि वह कर्त्तव्य को प्रधानता देता है, भावना को नहीं। उसके लिए तो भाव जगत् के सम्बन्ध तभी तक वांछनीय हैं जब तक कि वे उसी दायरे में सीमित न हों जो कि समाज या धर्म उनके लिए बाँधता है। उन दायरों का अतिक्रमण उसके लिए एक प्रकार से अधर्म होता है। इसके विपरीत साहित्य न केवल भावना-प्रधान होता है, परन्तु उसके लिए 'कर्तव्यता' वहीं तक रोचक होती है जहाँ तक वह धर्मसंकट को जन्म देती है। 'धर्मसंकट' में जब दो कर्तव्यताओं के बीच विरोध उत्पन्न होता है तो उनके भी चयन में जो मानसिक अन्तर्द्वन्द पैदा होता है साहित्य के लिए वही विषयवस्तु बनता है।

इसके विपरीत ऐसा भी कहा गया है कि साहित्य जिन भावनाओं का चित्रण करता है वे किसी व्यक्ति विशेष से सम्बन्धित न होकर एक प्रकार से उस सामान्य भावना से सम्बन्धित है जो अनेकानेक व्यक्तियों के सम्बन्ध में पाई जाती हैं। इसलिए उसमें भी एक प्रकार का सामान्य तत्त्व सम्मिलित रहता है, या कम से कम उसे भाव तत्त्व की खोज तो रहती ही है जो अनेक विशिष्ट व्यक्तियों के सम्बन्ध में प्रकट होता है। इसीलिए भाव जगत् का चित्रण उस सामान्य तत्त्व को पकड़ने की कोशिश करता है जो अनेकानेक भावों में प्रदर्शित होता है और शायद, इसी बात को ध्यान में रखकर भारतीय परम्परा में रसशास्त्र की सृष्टि हुई और विभिन्न रसों में भेद किए गए। वीर, शृंगार आदि का निरूपण काव्य या नाट्य में इस प्रकार किया जाता है कि अनेकानेक व्यक्तियों में उत्पन्न होने वाले इन संवेगों को इस प्रकार से प्रदर्शित करे कि वास्तव में सब को उसमें अपनी अनुभूति का भावनात्मक सत्य दिखाई दे। यह बात यहाँ तक भी कही जा सकती है कि वास्तव जगत् के भाव तो इस चित्रित भाव जगत् की छाया मात्र हैं क्योंकि उस भाव में वह 'शुद्धता' नहीं होती जो साहित्य में चित्रित की जाती है और इस प्रकार साहित्य में भावजगत् का चित्रण कुछ-कुछ उसी प्रकार का होता है जिस प्रकार ज्यामिति में, जहाँ जिस त्रिकोण की चर्चा होती है वह कोई ऐसा 'त्रिकोण' नहीं है जो वास्तविक जगत् में पाया जाता है, परन्तु जिसके आधार पर ही हम सब वास्तविक त्रिकोणों को 'त्रिकोण' कह सकते हैं। इस तरह से देखने पर स्थूल जगत् में पाया जाने वाला भावजगत् केवल उस भावजगत् की छाया मात्र है जो हमको साहित्य या कला के विविध आयामों में मिलता है और, जो एक प्रकार से

उस भावजगत् से कहीं अधिक 'सत्य' होता है जो हम अपनी रोजमर्रा जिन्दगी में महसूस करते हैं। यही नहीं, वास्तविक जगत् में उत्पन्न होने वाले भाव वहीं तक सत्य मालूम होते हैं जहाँ तक वे कला जगत् में चित्रित भावों को छू सकें या उनकी प्रतिछाया बन सके। पर ऐसा करना तो एक अजीब-सी जिंदगी जीना होगा यानी जैसे हम अपनी जिन्दगी नहीं जी रहे हों साहित्य के किसी पात्र की जी रहे हों। और क्या साहित्य के पात्र हमारे भावों को एक प्रकार ही से अभिव्यक्त करते हैं या जैसे-जैसे समाज बदलता है और मानवीय सम्बन्धों में परिवर्तन होता जाता है वैसे-वैसे साहित्य और कला में जो भावजगत् की सृष्टि की जाती है उसमें भी बदलाव आता है।

परन्तु यह आदर्श भाव कोई 'सामान्य' नहीं है, यानी उस प्रकार का 'सामान्य' जो हमने पहले 'आदर्श सम्बन्धों' के संदर्भ में देखा था। वहाँ भावों का चित्रण आदर्श धर्म के अनुरूप सम्बन्धों के संदर्भ में था, जबकि यहाँ जिस 'सामान्य' की चर्चा है वह 'धर्म' से सम्बन्धित न होकर एक प्रकार से भाव के ही अपने आदर्श रूप की खोज है जिसका धर्म से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। इसीलिए साहित्य या कला जिस भावजगत् को प्रस्तुत करते हैं हम उसको कला के संसार में होना ही 'उचित' मानते हैं। यदि ऐसा जीवन में होने लगे तो वह हमें कभी भी अच्छा नहीं लगता क्योंकि 'सामान्य' तो जीवन में हमेशा धर्म से नियमित होता है, हालांकि वह धर्म भी समाज, संस्कृति, कानून और लोक-मर्यादा आदि के माध्यम से ही व्यक्ति को मिलता है और उसमें भी काफी हद तक कुछ छूट रहती है। कहने का आशय यह है कि हम कलाजगत् में प्रवेश ही इसलिए करते हैं कि वहाँ अपने भावों को उनके स्वयं में निहित शुद्ध आदर्श के रूप में अनुभव कर सकें, जो कि हम रोजमर्रा के जीवन में कभी भी नहीं कर सकते। इस 'नहीं कर सकने' का कारण केवल यही नहीं है कि समाज में धर्म का होना अनिवार्य है, बल्कि इसलिए भी कि रोजमर्रा की जिन्दगी में हम 'जीने' की ऐसी मजबूरियों से बँधे रहते हैं कि किसी भी भाव का सही-सही उदय होना मुश्किल होता है और उसका रसास्वादन तो और भी कठिन। दूसरी ओर, घटनाओं का जो तारतम्य दैनन्दिन जीवन में होता है वह भी इस प्रकार का नहीं हो सकता कि उससे कोई भावों का भी तारतम्य बन सके। ज्यादातर तो उसमें घटनाक्रम इस तरह का होता है कि इस भावजगत् की सृष्टि भी न हो सके। कला में, विशेषकर साहित्य में, ऐसी कोई मजबूरी नहीं है और इसीलिए वहाँ भावजगत् की सृष्टि अपने शुद्ध रूप में की जा सकती है, पर चूँकि यह सृष्टि अधिकतर उन घटनाओं को लेकर होती है जो निजी जिंदगी में घटते हैं और उन मानवीय सम्बन्धों के सहारे सृजन की जाती है जो साधारण जिंदगी में मिलते हैं, इसलिए यह धोखा होता है कि साहित्य उसी संसार से सम्बन्धित है जो हमारा रोजमर्रा का संसार है और जिसमें ही हम जीते हैं। यह धोखा इसलिए भी सहज रूप में लेता है क्योंकि साहित्य जिस जगत् की

सृष्टि करता है वह हमें अपने भावजगत् से मिलते हुए एक अन्य ऐसे भावजगत् की साक्षात् अनुभूति कराता है जो हमें अपने भावजगत् का ही प्रतिबिम्ब प्रतीत होता है और जिसमें हम सहज रूप में प्रवेश कर पाते हैं।

कभी-कभी साहित्य मनुष्य के उन आयामों से उत्पन्न होने वाले भावों का भी सहारा लेता है जो प्रकृति के संदर्भ में उत्पन्न होते हैं या कर्म के जगत् से सम्बन्धित रहते हैं। इसके अलावा मनुष्य का एक और पक्ष भी है जो मनुष्य की उस चेतना से सम्बन्धित है जो अपने से किसी 'अन्य' की खोज करती है और उससे सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा करती है। कभी-कभी तो यह चेतना अपने ही किसी ऐसे विशुद्ध रूप की खोज करती है जहाँ न कोई वासना हो और न कोई आकांक्षा और न ही कोई उत्तेजना। साहित्य कभी-कभी इन सब को भी अपने में समाविष्ट करने की चेष्टा करता है, पर अधिकतर इससे उसका सम्बन्ध गौण रूप में ही होता है। दूसरी ओर, दार्शनिक चिन्तन आत्मचेतन प्राणी की वह सृष्टि है जो अनुभव के समस्त आयामों को समझने की कोशिश करती है और उनके आपसी सम्बन्धों को इस तरह से देखने की कोशिश करती है कि वह किसी समग्र दृष्टि में समा सके या उसका अंग बन सके। इसलिए उसके लिए कर्म, ज्ञान और भाव तीनों पक्ष समाज रूप में चिन्तन का विषय बनते हैं और वे सब जगत् भी जो मनुष्य इन क्षेत्रों में बनाता है। परन्तु उसके चिन्तन का मूल माध्यम प्रत्यय होता है जिसके द्वारा वह इन सब आयामों के 'सत्य' को पकड़ने की चेष्टा करता है और इस चेष्टा में उसका ध्यान उस 'सत्य' की ओर केन्द्रित रहता है जो इन सब के अन्तर में व्याप्त होते हुए भी आसानी से पकड़ में नहीं आता। वह किसी विशुद्ध भावजगत् की सृष्टि नहीं करना चाहता। और यदि उसका भावजगत् से कोई विशेष सम्बन्ध हो भी तो वह उस चेतना से सम्बन्धित होती है जिसमें सहज रूप से शंका, आश्चर्य और प्रश्न सतत् उत्पन्न होते हैं। वह चेतना जिस पर भी विचार करती है, उस विचार के बारे में भी शंकाशील होती है, और उस पर सतत् प्रश्नचिह्नों के सहारे आगे बढ़ती है, और चूँकि दार्शनिक चिन्तन का विषय इस प्रकार का चिन्तन भी होता है इसलिए इस चिन्तन के द्वारा उत्पन्न जो समस्याएँ होती हैं वे एक प्रकार से दर्शन का विशिष्ट विषय बन जाती हैं और अधिकतर दार्शनिक समस्याओं को इस रूप में लेते हैं या स्वीकार करते हैं। कहने का अर्थ यह है कि जहाँ एक ओर दार्शनिक चिन्तन, ज्ञान, कर्म और भावना के समस्त जगत् को अपने चिन्तन का विषय बनाता है, वहीं दूसरी ओर वह अपने एक और स्तर को चिन्तन का विषय भी बनाता है। इसलिए पहले स्तर का दार्शनिक चिन्तन कुछ हद तक अन्य सब आयामों से सम्बन्ध रखने वाले व्यक्तियों को कुछ हद तक समझ में आता है और अपने विशिष्ट विचार के लिए सार्थक भी लगता है, दूसरे स्तर का दार्शनिक चिन्तन उन्हें अधिकतर निरर्थक-सा प्रतीत होता है। इसके विपरीत, जिस चेतना

का दार्शनिक चिन्तन की ओर झुकाव होता है उसे दूसरे स्तर की समस्याओं में अधिक आनन्द आता है और वे ही उसे शुद्ध दार्शनिक समस्याएँ लगती हैं।

परन्तु दार्शनिक चिन्तन केवल इन्हीं दो स्तरों तक सीमित नहीं होता, उसका एक और भी आयाम है जो मनुष्य की उस आत्मचेतना से सम्बन्धित है जो उसको शायद सब अन्य प्राणी जगत् से अलग करती है और जो उसके स्वयं अपने चिन्तन का विषय बनती है। मानवीय चेतना का यह रूप जो स्वयं अपने को विषय रूप में देखता है वह हर विषय रूप में उपस्थित होने वाली वस्तु पर प्रश्नचिह्न ही नहीं लगाता बल्कि उसको कुछ इस तरह से देखता है कि वह अपने आप में कभी भी सम्पूर्ण नहीं है और उसके परे भी कुछ है जो उसको वैशिष्ट्य प्रदान करता है। इस तरह की दृष्टि की बात आधुनिक मनोविज्ञान में गैस्टाल्ट मत को मानने वाले मनोवैज्ञानिकों ने प्रत्यक्ष के सम्बन्ध में कही है। उनका मत यह है कि जब भी हम किसी वस्तु को देखते हैं तो हमेशा उसको उसके परिप्रेक्ष्य में ही देखते हैं और उस परिप्रेक्ष्य से ही उसकी सार्थकता उत्पन्न होती है। पर अगर हमारा ध्यान उस वस्तु से हटकर उसके परिप्रेक्ष्य में केन्द्रित हो जाता है तो वह परिप्रेक्ष्य स्वयं यदि हमारे प्रत्यक्ष का विषय बनता है जो कि किसी अन्य परिप्रेक्ष्य की माँग करता है, क्योंकि बगैर परिप्रेक्ष्य के तो किसी भी साकार वस्तु का प्रत्यक्ष हो ही नहीं सकता। इस प्रकार से एक अनन्त परिप्रेक्ष्यों की शृंखला का जन्म होता है जो साधारणतः हमारी दृष्टि से छिपी ही रहती है। कुछ इस तरह की बात भारतीय दर्शन में रूप और आकार को लेकर कही गई है। इसका एक प्रसिद्ध उदाहरण आकाश के संदर्भ में दिया जाता है और यह कहा जाता है कि आकाश तो स्वयं निराकार है परन्तु जब वह घट या मठ आदि से आच्छादित होता है और प्रत्यक्ष रूप में प्रकट होता है तब उसे हम घटाकाश या मठाकाश कहते हैं। यहाँ दो बातें ध्यान देने योग्य हैं—एक तो यह कि वह अपने आप में असीम या शुद्ध रूप में निराकार है, उसका तो हमें प्रत्यक्ष हो ही नहीं सकता और वह प्रत्यक्ष तभी होता है जब वह किसी से सीमित होता है और जिस तरह भी वह सीमित होता है उसी का रूप धारण कर लेता है। प्रतीत होने का अर्थ ही यह होता है कि जो असीम है वह सीमित हुआ है और सीमित होने से ही हम उसकी अनुभूति कर पाते हैं। लेकिन जैसे ही हमको यह ज्ञान होता है कि यह सीमित है और इसके अन्दर या इसके द्वारा कोई असीम या अरूप व्यक्त हुआ है, वैसे ही हमारा ध्यान उससे हटकर उस पर केन्द्रित होने की चेष्टा करता है जिसके द्वारा वह आच्छादित भी है और प्रकट भी। आत्मचेतना कुछ हद तक मनुष्य को इस दिशा में ले जाती है और सदैव उसको यह आभास देती रहती है कि जो कुछ है, वही सब कुछ नहीं है, और उस 'सब कुछ' की ओर जाने का आमंत्रण भी उसे सदैव मिलता रहता है। परन्तु यह आमंत्रण उसी प्रकार का है जैसे क्षितिज पर पहुँचने की चेष्टा। क्योंकि जैसे ही हम थोड़ा चलते हैं वैसे ही क्षितिज और दूर होता जाता है। और 'चलने' के लिए क्षितिज की भ्रान्ति जरूरी होती ही है

क्योंकि यदि वह न हो तो हमको उस लक्ष्य का आभास भी नहीं होगा जिसको हम प्राप्त करने के लिए चले। जरा सोचिए, देश और काल जिनका प्रत्यक्ष किसी माध्यम से होता है, क्या इनकी अनन्तता को हम अपने मापदण्डों में सदैव बाँधने की चेष्टा नहीं करते। कोई सार्थक स्थापत्य हमें देश का मूर्त आभास कराता है। इसी प्रकार संगीत हमको काल का। नृत्य भी ऐसा करता है और इसीलिए नृत्य का संगीत से गहरा सम्बन्ध है, हालांकि संगीत नृत्य से स्वतंत्र है। संगीत की गति शुद्ध काल में है जबकि नृत्य देश और काल दोनों में है, क्योंकि उसकी गति देश के बिना नहीं हो सकती और न संगीत की काल के अभाव में। संगीत में जो 'ताल' है वह क्या काल को बाँधने की चेष्टा नहीं है परन्तु साथ ही क्या यह भी सत्य नहीं है कि उसके उस बाँधने के द्वारा ही हमें काल की गति का साक्षात् मूर्त रूप में आभास होता है।

अगर हम विभिन्न कलाओं को इस दृष्टि से देखते हैं कि वह किस अनन्त अरूप का किस माध्यम से प्रत्यक्ष कराने की चेष्टा करती है, जैसा कि हमने संगीत, नृत्य और स्थापत्य के बारे में देखने की कोशिश की है, तो यह प्रश्न उठता है कि साहित्य का माध्यम किस अमूर्त, अरूप और अनन्त को अपने माध्यम के द्वारा हमें दिखाने की कोशिश करता है। यही बात कुछ-कुछ चित्रकला के सम्बन्ध में भी उठाई जा सकती है, क्योंकि जिस प्रकार स्थापत्य हमको देश का प्रत्यक्ष अनुभव कराने की चेष्टा करता है उसी प्रकार कुछ हद तक चित्र भी करता है। और अगर ऐसा है तो चित्र जिस तरह से देश का प्रत्यक्ष कराता है उसमें, और स्थापत्य देश का जिस प्रकार अनुभव कराता है उसमें, क्या भेद है। साहित्य का माध्यम शब्द तो होते ही हैं, परन्तु शब्द स्वयं इसके ही माध्यम नहीं हैं; सहज रूप में शब्द को विचार का माध्यम माना जा सकता है, पर विचार तो दर्शन का अपना क्षेत्र है और वही शब्द जो साहित्य का माध्यम है, दर्शन भी उसके बगैर चल नहीं सकता। दर्शन का प्रासाद उसके बगैर खड़ा ही नहीं किया जा सकता। फिर क्या शब्द इसी अमूर्त, अनन्त और अरूप को व्यक्त करने की चेष्टा है और अगर ऐसा है तो साहित्य और दर्शन में क्या भेद है। पर शब्द तो अकेला नहीं होता, वह स्वयं वर्ण से बना होता है और वर्ण का भेद भी हम स्वर और व्यंजन में करते हैं। दूसरी ओर शब्द का अन्य शब्दों से सम्बन्ध होता है और शब्द मिलकर वाक्य बनाते हैं और कुछ लोग तो ऐसा कहते हैं कि वाक्य के माध्यम से ही अर्थ प्रकट होते हैं। पर फिर प्रश्न यह उठता है कि अर्थ क्या है जो वाक्य के माध्यम से प्रकट होता है और क्या हर शब्द का दूसरे शब्द के साथ नाता जोड़ सकते हैं। क्या किसी शब्द के उच्चारण करते ही, लिखते ही, उन अन्य शब्दों के होने को ही उपयुक्त मानते हैं और किन्हीं अन्य शब्दों के प्रयोग को गलत ठहराते हैं। पर जैसे ही हम एक शब्द के बाद दूसरे शब्द का प्रयोग करते हैं तब तीसरा शब्द क्या होगा इसका औचित्य-क्षेत्र भी बँध जाता है और धीरे-धीरे शब्द का चयन अपने आगे आने वाले शब्दों

की औचित्य सीमा को अधिकाधिक कम करता जाता है। वाक्य की यह प्रक्रिया आखिर उस 'वाक्य' में जाकर समाप्त होती है जिसमें हमारी अर्थ-आकांक्षा को विश्रान्ति मिलती है और ऐसा लगता है कि अब जिसकी खोज थी वह मिल गया। पर यह भी कुछ उतना ही बड़ा भ्रम है जैसे क्षितिज को पाने के लिए 'चलना', क्योंकि वाक्य के बाद भी अन्य वाक्य होते हैं और वाक्यों के सम्बन्धों में भी औचित्य विचार होता है, यानि कि दूसरा वाक्य पहले वाक्य के अर्थ को एक ऐसी दिशा में ले जाता है जो हमें ठीक लगती है। वाक्यों का यह क्रम ही, अगर सोचें तो, उतना ही अनन्त है जितना गणित की संख्याओं का और हालांकि प्रत्येक पुस्तक का प्रारम्भ और अन्त होता है पर जिसका वह प्रत्यक्ष कराने की चेष्टा करती है उसका तो अन्त नहीं होता। कुछ हद तक यह तो सब मान ही लेंगे कि इसका अन्त नहीं होता, क्योंकि उसी विषय पर या वही साहित्यिक अन्य पुस्तकों की रचना करता है और एक तरह से हम उसकी रचना में सम्बन्ध भी ढूँढ़ते हैं। लेकिन क्या जो किसी पुस्तक का पहला वाक्य लगता है वह वास्तव में 'पहला' है या वह 'आदि' है या उसके भी पूर्व कुछ नहीं है। क्या वह भी उतना ही अनादि है जितना अनंत के अन्त होने का भ्रम। जो जहाँ से प्रारम्भ होता दिखाई देता है क्या उससे पहले भी तो अनेकानेक पुस्तकें नहीं लिखी गई हैं, और उनका उससे सम्बन्ध है। तो क्या भाषा जिसमें स्वर हैं, व्यंजन हैं, वर्ण हैं, वाक्य हैं, पुस्तकें हैं, इसी अभिव्यक्ति करने की एक अनन्त प्रक्रिया है जिसका न कोई आदि है और न कोई अन्त। फिर यह कैसी प्रक्रिया है, यह किसको अभिव्यक्त करती है, क्या इसका देशकाल की अनन्तता से कोई सम्बन्ध है?

एक तरह से सोचें तो भाषा प्रधानत: बोलने की चीज़ होती है, लिखने की नहीं। लिखना तो बाद में होता है, पहले तो बोलना-सुनना ही होता है, पर अगर हम इस 'बोलने-सुनने' की प्रक्रिया पर ध्यान दें तो यह भी उतनी ही अन्तहीन लगती है जितनी मनुष्य की कोई और प्रक्रिया। और क्या ऐसा नहीं लगता, कि इस 'बोलने' का हमेशा कोई मतलब ही होता है। बहुत बार तो हम सिर्फ बात करने के लिए ही बात करते हैं, किसी को न कोई सूचना देनी होती है, न कोई आज्ञा, न कोई प्रार्थना, और न कोई और ऐसी चीज़ जिसके लिए भाषा-शास्त्री भाषा के बारे में प्रयोग की चर्चा करते समय, बताते हैं। यहाँ तो सिर्फ बात के लिए बात की जाती है, बात किसी अन्य काम के लिए नहीं। और शायद भाषा का यही शुद्ध प्रयोग है कि वह एक चेतना को किसी अन्य चेतना से इस प्रकार सम्बन्धित करे कि दोनों को एक-दूसरे की 'पहचान' हों। और यह आभास हो कि मेरे अलावा भी कोई अन्य है जो मुझे जानता है और जिसे मैं जानता हूँ। या दूसरे शब्दों में कहें तो उसके लिए मेरी सत्ता का कुछ मूल्य है क्योंकि वह मेरी बात को 'सुनता' है और उसका मेरे लिए कुछ मूल्य है क्योंकि मैं अपनी बात को उसको सुनाना चाहता हूँ। इस संदर्भ में यह बात ध्यान देने योग्य है कि बातचीत किसी लेखक और सहृदय

के बीच नहीं है जैसा कि अक्सर साहित्य की चर्चा करते समय लोग कहते हैं, ओर न यह किसी के 'रंजन' करने के लिए है। उनसे भी परे यह तो शुद्ध आत्मीयता का आदान-प्रदान है जो एक चेतना दूसरी चेतना से करती है और जिसके होने में वह अपना 'आत्म-लाभ' पाती है। चेतना का किसी अन्य चेतना से यह सम्बन्ध सहज और स्वाभाविक प्रतीत होता है और इसके आधार पर ही मानव जगत् की सृष्टि होती है। वह केवल मानव तक ही सीमित नहीं होता बल्कि और अन्य प्राणियों के संदर्भ में भी पाया जाता है। पालतू पशु-पक्षियों से तो आदमी का गहरा सम्बन्ध है और कभी-कभी वह उनसे कुछ चेतना का आदान-प्रदान भी करता है। यही बात कुछ हद तक, वृक्ष, लता, पुष्प, पौधों आदि से भी होती है। इसीलिए मनुष्य हरे-भरे जंगल में घूमने की इच्छा करता है और वहाँ जाकर उसे कुछ प्राप्त ही होता है। यही नहीं, आकाश की ओर देखकर या सूर्य जो उग रहा हो या छिप रहा हो उसको देखकर या आसमान में चाँद को देखकर मनुष्य की चेतना कुछ अजीब सा महसूस करती है। पर इन सब सम्बन्धों के बावजूद आदमी को जो आनन्द आदमी से बात करने में मिलता है वह इन सबसे कहीं अधिक गहरा और सार्थक प्रतीत होता है। हालांकि जड़ दिखने वाली वस्तुओं से जो चेतना का सम्बन्ध है या जो पशु-पक्षियों आदि से सम्बन्ध है, वह भी कभी-कभी उतना ही या उससे भी अधिक मूल्यवान लगता है जितना मनुष्य का मनुष्य से। पर वार्तालाप के अनेक आयाम हैं जो भाषा अर्थ के माध्यम से प्रकट करती है। अन्य सम्बन्धों में वह प्राय: मूक ही रहती है। चेतना का भाषा और अर्थ से क्या सम्बन्ध है, और अर्थ क्या कोई अन्य मानव चेतना ही समझ सकती है, इसी प्रश्न के उत्तर में शायद साहित्य रचना का वह रहस्य है जिस पर अभी तक विशेष ध्यान नहीं दिया गया है।

अर्थ की खोज तो दर्शन करता है पर साहित्य में जिस अर्थ की खोज है वह अधिकतर उन अर्थों तक ही सीमित है जो मानव और मानव के बीच भावों के आदान-प्रदान से सम्बन्धित होते हैं। कभी-कभी, विशेषत: काव्य में, यह उन भावात्मक अर्थों की भी खोज करता है जो मनुष्य की चेतना मुख्यत: जगत् के सम्बन्ध में ग्रहण करती है। इसके विपरीत, दर्शन की खोज एक प्रकार से 'अर्थ' को ही समझने की चेष्टा है और चेतना का भाषा से जो सम्बन्ध है उसको पकड़ने की कोशिश में वह हमेशा रहता है। उसको यह भी सदैव शंका रहती है कि कहीं भाषा उसे भ्रमित तो नहीं कर रही या उसे ऐसी बातों को स्वीकार करने के लिए बाध्य तो नहीं कर रही जो वास्तव में 'सत्य' हैं ही नहीं। आज का पश्चिमी दर्शन तो इस समस्या से इतना ग्रसित प्रतीत होता है कि यदि उसे भाषा और अर्थ के सम्बन्धों पर केन्द्रित माना जाये तो कोई विशेष गलती नहीं होगी। कुछ दार्शनिकों ने तो यहाँ तक कह ड़ाला है कि दर्शन भाषा का एक रोग है जो भाषा और अर्थ के सम्बन्धों को ठीक-ठीक नहीं समझने के कारण उत्पन्न होता है और इसका इलाज

भी तभी हो सकता है जब मनुष्य इन सम्बन्धों को ठीक प्रकार से समझे। इसी सन्दर्भ में दर्शन के विचार का केन्द्र बिन्दु शुरू से ही यह नहीं रहा है कि 'क्या' है, पर यह कि 'यह' कहने में कि 'कुछ' है, हम उसके कुछ 'नहीं होने' का निषेध कर रहे हैं। बौद्ध दार्शनिकों ने तो यहाँ तक कह डाला था कि 'अर्थ' होने का अर्थ ही यह है कि कोई चीज़ क्या नहीं है। इसी को उन्होंने 'अपोह' सिद्धान्त का नाम दिया था। जैन दार्शनिकों ने ऐसे निषेध को सत्ता के स्वरूप में ही निहित माना और यह कहने की कोशिश की कि वास्तव में वस्तु के अनेक पक्ष होते हैं जिनमें जो नहीं है, 'वे' उसका उतना ही अनिवार्य गुण हैं जितना कि वह जो हैं। आधुनिक काल में अमेरिका के प्रसिद्ध दार्शनिक क्वाइन ने इसी को अपने प्रसिद्ध लेख 'वास्तव में क्या है' में निषेध को ही दार्शनिक भ्रान्तियों का मूल आधार बताया है और यह कहा है कि अगर निषेध न होता तो बहुत सारी समस्याएँ उत्पन्न ही नहीं होतीं क्योंकि दर्शन सहज रूप में यह मान लेता है कि जिसका निषेध किया गया है उसकी भी अपनी कोई न कोई सत्ता तो होगी ही, वरना उसके निषेध का अर्थ ही क्या होगा। मज़ाक करते हुए उसने लिखा था कि उस दरवाजे में एक मोटा आदमी नहीं है और एक हाथी भी नहीं है और पता नहीं क्या-क्या नहीं है। इतनी सब चीज़ें उस दरवाजे में नहीं हैं तो क्या सब की सत्ता को वहाँ मानना ज़रूरी होगा। पर चाहे दार्शनिक भाषा के इन सब प्रयोगों को वांछनीय न मानें और इनसे तथ्यात्मक जगत् के बारे में भ्रान्त धारणाओं को उत्पन्न करते हुए देखें, साहित्य को तो यही जगत् प्यारा लगता है। वहाँ सम्भावना और सत्य में कोई विशेष अंतर नहीं किया जाता। उसके लिए तो सम्भावित सत्य ही अधिक सत्य है क्योंकि जो वास्तव में तथ्य है उसमें तो कुछ अर्थ ही दिखाई नहीं देता। ऐसा नहीं है कि केवल साहित्य में ही अर्थ की खोज तथ्य को नकारती प्रतीत होती है। इतिहासकार भी कुछ-कुछ ऐसा करते हुए दिखाई देते हैं क्योंकि तथ्य तो अनगिनत हैं और बहुत से तथ्यों में तो अर्थ बिल्कुल ही नहीं प्रतीत होता। उनको अर्थ देने के लिए इतिहासकार उनमें से कुछ को चुनता है और उनको अन्य तथ्यों से सम्बन्धित कर एक ऐसी कहनी गढ़ता है जो अर्थवान लगे या उसमें से कुछ अर्थ प्रकट हों। तो क्या तथ्य और अर्थ में एक मूल विरोध है। ध्यान से देखें तो साहित्यकार और इतिहासकार ही ऐसा नहीं करते, पर हम स्वयं भी ऐसा करते हैं क्योंकि कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं है जो अगर अपने जीवन में अर्थ को खोजे तो सुबह से शाम तक होने वाली असंख्य घटनाओं में उसको कोई अर्थ मिलेगा। उनमें से कुछ को ही वह अर्थवान मानता है। तो फिर क्या 'अर्थ' हम केवल उन तथ्यों को देते हैं जिनमें हमें कोई मूल्य या महत्त्व दृष्टिगोचर होता है। तो क्या 'अर्थ' का मूल्य से सम्बन्ध है, तथ्य से नहीं; अगर ऐसा है तो फिर मूल्य या महत्त्व इन तथ्यों की दुनिया में कहाँ से आता है।

मूल्यों की खोज ही एक प्रकार से मनुष्य का वह चरम पुरुषार्थ है जो उसके जीवन को अर्थवत्ता प्रदान करता है, इसीलिए कुछ ऐसा लगता है कि मनुष्य का

'अर्थ' उसमें नहीं है जो वह है, परन्तु उसमें है जो उसे होना चाहिए, और इस 'है' और 'होना चाहिए' का सम्बन्ध यही है कि जो 'है' वह जो 'होना चाहिए' उसके लिए साधक बनें और उसकी अर्थवत्ता इसी में है कि वह कहाँ तक साधन बनता है। दरअसल उसे अर्थवत्ता की तलाश है, और वह तथ्य और मूल्य के सम्बन्ध को समझने की कोशिश करता है जो उसकी चेतना के माध्यम से प्रकट होते हैं। चेतना में तथ्य और मूल्य दोनों का सहज सम्मिश्रण है और आत्मचेतन प्राणी उन दोनों को एक साथ देखता है और पाता है कि वैसा नहीं है जैसा उसे होना चाहिए। परन्तु यह प्रतीति जो विषय रूप में होती है उसके अपने बारे में भी होती है और अपनी चेतना की स्वयं की स्थिति के बारे में भी। चेतना की स्थिति वैसी नहीं है जैसी उसे होनी चाहिए। यह प्रतीति मनुष्य को अपने बारे में सोचने को विवश करती है, जिस प्रकार विषय रूप में उपस्थिति होने वाले जगत् के सम्बन्ध में यह प्रतीति कि वह वैसा नहीं है जैसा उसे होना चाहिए, उसे कार्य में प्रवृत्त करती है जिसके द्वारा वह उस जगत् में कुछ ऐसा परिवर्तन ला सके कि वह उस स्थिति के अधिक समीप हो जैसा उसे होना चाहिए। परन्तु विषय रूप में प्रतीत होने वाले जगत् केवल जड़ या प्राणी जगत् ही नहीं हैं, उसमें तो अन्य मनुष्य भी हैं जिनके साथ उसका सम्बन्ध होता है और इन सम्बन्धों के बारे में भी उसको सदैव यह लगता है कि वैसा नहीं है जैसा उन्हें होना चाहिए। मनुष्य के जगत् की संरचना वास्तव में इन्हीं सम्बन्धों से होती है और इसमें अर्थवत्ता की खोज मनुष्य के पुरुषार्थ को एक ओर ले जाती है। दूसरी ओर, जब आत्म चेतना की स्थिति पुरुषार्थ का केन्द्र बिन्दु बनती है तब वह मनुष्य को दूसरी ओर ले जाती है जहाँ उसका सम्बन्ध न जड़ जगत् से होता है और न प्राणिजगत् से और न उस मनुष्य से जो जड़ जगत् और प्राणिजगत् के आधार पर एक नए जगत् की सृष्टि करता है। पुरुषार्थ की ये दो भिन्न दिशाएँ हैं और मनुष्य जो अपने जीवन का अर्थ ढूँढ़ने की चेष्टा करता है वह कभी एक ओर जाता है, तो कभी दूसरी ओर। एक ओर की साधना दूसरों पर निर्भर करती है क्योंकि मानवीय सम्बन्ध एकतरफा नहीं होते और उनकी सबसे पहली विडम्बना ही यह है कि उनमें प्रत्येक अनिवार्य रूप से 'परतन्त्र' या 'पराश्रित' रहता है। ऐसा नहीं है कि उसे इन सम्बन्धों को बनाने में कोई स्वतंत्रता ही नहीं है। वह भी दूसरे के लिए उतना ही विषय रूप है जैसा कि दूसरे उसके लिए हैं। वह भी उनके लिए बहुत-कुछ कर सकता है पर उनके साथ मिलकर जो अर्थजगत् की सृष्टि होती है वह केवल उस पर ही निर्भर नहीं करती, उसमें दूसरे भी उतने ही भागीदार हैं जितना कि वह स्वयं। यह एक ऐसा खेल है जिसको सब मिलकर खेलते हैं और जो हरेक खिलाड़ी के खेल कौशल पर निर्भर करता है, क्योंकि यदि एक भी कोई गलती करे तो उस रंग में भंग आसानी से हो सकता है। और चूँकि इस संसार की रचना भावजगत् के आधार पर होती है, इसलिए इसमें ईर्ष्या, डाह आदि भाव इसको बिगाड़ने के लिए पर्याप्त होते हैं, क्योंकि एक मनुष्य का किसी मनुष्य के प्रति प्रेम दूसरे की जलन का कारण बन

सकता है और फिर इन सम्बन्धों में इस बात की सम्भावना हमेशा रहती है कि कोई किसी अन्य को प्यार करता है। यह ऐसे संदेह को जन्म देता है जो सारे भावजगत् में विष के समान फैल जाता है और जो 'स्वर्ग' था उसको 'नरक' में बदल देता है। प्रसिद्ध फ्रेंच साहित्यकार और दार्शनिक सार्त्र ने कहा था कि 'अन्य' का होना ही नरक की उपस्थिति की सम्भावना को जन्म देता है, पर उसने यह नहीं सोचा कि अन्य की उपस्थिति स्वर्ग की संभावना को भी जन्म देती है और चूँकि उसमें स्वर्ग की संभावना निहित है इसीलिए नरक की संभावना भी है क्योंकि स्वर्ग और नरक के बीच केवल यही भेद है कि आपका अन्य से सम्बन्ध कैसा है। आपका अन्य से सम्बन्ध एक-दूसरे को आनन्द देने वाला है या दु:खी करने वाला।

साहित्य एक प्रकार से मनुष्यों के बीच इन्हीं भावों-सम्बन्धों के होने और बदलने का चित्रण करता है, और यह दिखाता है कि किस प्रकार जो स्वर्ग था वह नरक में परिणत हो जाता है। वे ही लोग जो यह कामना करते थे कि वे एक-दूसरे के साथ 24 घंटे रहें उन्हें एक क्षण भी दूसरे का साथ नहीं सुहाता है, पर जैसे वह स्वर्ग स्थायी नहीं था वैसे ही यह नरक भी स्थायी नहीं होता है और भावात्मक सम्बन्धों का धर्म ही कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि उनमें स्थायित्व हो ही नहीं सकता, हालांकि हम उसकी तलाश हमेशा करते हैं, विशेषकर उन भावों में जहाँ हमें एक सार्थक पूर्णता का अहसास होता है।

परन्तु 'अन्य' के साथ सम्बन्ध केवल भावात्मक ही नहीं होते, उनमें एक कर्त्तव्यता का भाव भी होता है जो एक भिन्न संसार को जन्म देता है। एक ओर जहाँ वह संसार उन मनुष्यों के बीच कर्तव्य की भावना का निर्माण करता है, जिन्हें हम व्यक्तिगत सम्बन्धों से जानते हैं, वहीं दूसरी ओर वह एक ऐसे अन्य भावजगत् का निर्माण करता है जिसमें हमारी कर्तव्यता उन अनेक व्यक्तियों के प्रति होती है जिनसे हमारा कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। ऐसा अधिकतर तब होता है जब हम किसी संस्थान का कार्य करते हैं जिसका अपना एक पुरुषार्थ होता है और जिस पुरुषार्थ की प्राप्ति के लिए उस समाज में, राज्य में, या किसी अन्य अर्थव्यवस्था में उस संस्थान को निर्मित किया गया है। उसके अनुरूप काम करने के कारण उसका अपना पुरुषार्थ हमारे अपने पुरुषार्थ का एक अंग बन जाता है, विशेषकर उस समय के लिए जब हम उसके सदस्य के रूप में कार्य करते हैं। राज्य के संदर्भ में तो यह बात साफ ही है कि राजा का, या वे लोग जो राजधर्म का पालन करते हैं, उनका पुरुषार्थ यही है कि वे अन्य लोगों को अपने-अपने पुरुषार्थों का पालन करने में सहायक हों या दूसरी तरह से कहें तो ऐसी व्यवस्था का निर्माण करें जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपने पुरुषार्थ का सहज रूप में पालन कर सकें और दूसरों की पुरुषार्थ सिद्धि के लिए बाधक नहीं बनें।

परन्तु कर्म के इस व्यापक और सार्वजनिक क्षेत्र में जो समस्याएँ उठती हैं उनका मनुष्य के भावजगत् से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं होता और जहाँ तक 'कर्तव्यता' का प्रश्न है वहाँ उसके लिए यह संदर्भ अधिकतर यही प्रश्न उपस्थित करता है कि वह संस्था के पुरुषार्थों में और उसके अपने निजी पुरुषार्थों के बीच कैसे उचित सम्बन्ध स्थापित करें। वैसे तो ये पुरुषार्थ साधारणत: 'स्वार्थ' का ही रूप लेते हैं, पुरुषार्थ का नहीं और इस संदर्भ में मनुष्य को हमेशा यही लालच बना रहता है कि वह संस्था का उपयोग अपने निजी स्वार्थों की सिद्धि के लिए करे। परन्तु यह बात इसी तक सीमित नहीं रहती, उसके अन्य भी आयाम हैं जहाँ मनुष्य अपनी संस्था के स्वार्थों के लिए किसी उससे बड़ी संस्था के, जिसका वह अंग मात्र है, का उपयोग करता है। कुछ-कुछ यह उसी तरह की बात है जैसे कोई अपने परिवार की भलाई के लिए किसी संस्था का उपयोग करें। 'स्वार्थ' का क्षेत्र इस प्रकार काफी छोटा भी हो सकता है, और काफी बड़ा भी। परन्तु समस्या यही रहती है कि जहाँ मनुष्य का धर्म सबके भले के लिए कार्य करना है वहाँ वह किसी सीमित जनसमुदाय के लिए ही करता है। और जहाँ तक राज्य का सम्बन्ध है वहाँ तो यह कहना भी मुश्किल है कि उसके 'पुरुषार्थ' और 'स्वार्थ' में क्या अन्तर है। यह ठीक है कि संयुक्त राष्ट्र संघ जैसी संस्थाएँ हैं, लेकिन आमतौर पर उसके सब सदस्य राष्ट्र अपने-अपने स्वार्थों की सिद्धि के लिए ही उसका उपयोग करते हैं।

अधिकतर इस बात की ओर न तो साहित्य अधिक ध्यान देता है और न दर्शन ही। क्योंकि दोनों की दृष्टि सहज रूप में व्यक्ति पर ही केन्द्रित होती है और उनका भावजगत् या भाव पक्ष या विचार पक्ष पर ध्यान केन्द्रित होता है।

और इस तरह जब उनका ध्यान किसी व्यक्ति के अन्य व्यक्तियों के साथ सम्बन्ध की ओर जाता है, तब भी वह दोनों पक्षों को व्यक्तियों के रूप में ही देखता है, न कि किसी संस्था, समाज या राज्य के प्रतिनिधि के रूप में। और, अगर वह कभी इस बात की ओर ध्यान भी देता है तो इसको व्यक्तियों के ही माध्यम से प्रदर्शित करता है क्योंकि उसके पास इसके सिवा और कोई भी चारा नहीं है। अधिकतर तो वह इस संदर्भ में भी संस्था और राज्य की ओर तो कम ही ध्यान देता है। हाँ, समाज की बात वह ज़रूर करता है, लेकिन अप्रत्यक्ष रूप में, क्योंकि जहाँ साहित्य के लिए चरित्र-चित्रण नायक-नायिकाओं के सम्बन्ध और घटनाक्रम के उतार-चढ़ाव ही महत्त्व रखते हैं, वहाँ दर्शन के लिए समस्त जगत् और उसका सम्बन्ध केवल विषय रूप में ही प्रस्तुत होते हैं। ऐसा नहीं है कि समाज या राज्य दर्शन के चिन्तन का विषय नहीं बनते, पर साधारणत: दर्शन की मूलभूत समस्याएँ जो अधिकतर ज्ञान, कर्म और मूल्यों से सम्बन्धित होती हैं, उनकी तुलना में इन पक्षों को गौण मानकर ही विचार होता है।

दर्शन और साहित्य में इतना भेद होते हुए भी यह कहना गलत होगा कि उनमें आपस में कोई सम्बन्ध है ही नहीं; आखिर दर्शन का साहित्य रूप भी होता है और

साहित्य पर विचार दर्शन का एक अभिन्न अंग है। दर्शन के साहित्य को 'साहित्य' की दृष्टि से कम देखा गया है, पर ऐसा किया जा सकता है और करना भी चाहिए। हालांकि दर्शन यह मानकर चलता है कि वह अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन शुद्ध तर्क के आधार पर ही करता है, पर यह बात सच नहीं है क्योंकि युक्तियों के अलावा दार्शनिक अन्य सब वे तरीके भी अपनाते हैं जो उनकी बात मानने में सहायक हों। अरस्तू ने इस सब को 'रिटोरिक्स' में अलग से सम्मिलित करके उन पर स्वतंत्र रूप में चर्चा की थी और भारतीय दर्शन के ग्रन्थों में जब किसी का खण्ड़न किया जाता है तो तर्क के साथ कुछ और भी बातें कही जाती हैं, जैसे—दूसरे के पक्ष का मज़ाक उड़ाना या उसकी निन्दा करना या यह बताना कि यदि उसको सत्य मान लिया जाएगा तो कितनी अजीब-सी लगने वाली बातें स्वीकार करनी पड़ेंगी आदि-आदि। कभी-कभी तो वे लोग अपने ग्रन्थों में एक-दूसरे को गाली तक देने लगते हैं, कुछ ग्रन्थों का तो नाम ही इस प्रकार का है जैसे तर्क नहीं हो रहा हो कोई युद्ध हो रहा हो। 'बौद्धधिक्कार', 'भेदधिक्कार' या 'अभेदरत्नरक्षणं' आदि कुछ ऐसे नाम हैं जो प्रसिद्ध दार्शनिकों ने अपने ग्रन्थों को दिए हैं। यही नहीं, भारतीय परम्परा में तो दर्शन का वाद-विवाद कुछ प्रकार समझा जाता था जैसे वह हार-जीत का मामला हो और अनेक ऐसे उदाहरण हैं जहाँ अपने गुरु के हारने के बाद शिष्यों ने अपना यह धर्म समझा कि वे गुरु की हार का बदला लें, जिसने कभी-कभी तो यह रूप ले लिया कि उस जीतने वाले की बाद में हत्या ही कर दी गई। हालांकि 'वाद' का विशुद्ध अर्थ जो गौतम ने अपने न्यायसूत्र में दिया है उससे यह बिल्कुल अलग प्रतीत होता है, पर लगता है कि दर्शन को भारतीय परम्परा में शुद्ध बौद्धिक विचार की प्रक्रिया न मानकर किसी सम्प्रदाय विशेष के मत के समर्थन का साधन ही समझा गया, क्योंकि यदि दर्शन को बुद्धि के द्वारा सत्य की खोज के प्रयास रूप में समझा जाए तो उसमें फिर हार-जीत की बात तो हो ही नहीं सकती, क्योंकि वह खोज उतनी ही अनन्त है जितनी कि कोई अन्य खोज। पर यह ठीक होते हुए भी इस बात को मानने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि दर्शन का भी अपना एक 'अलंकारशास्त्र' है। साहित्य को भी एक अनन्त खोज के रूप में देखा जा सकता है और अगर किसी भी विषय की अभिव्यक्ति के लिए उसे अलंकारों की आवश्यकता होती है तो फिर दर्शन के सम्बन्ध में उसकी आवश्यकता को मानने में क्यों कठिनाई महसूस हो; पर दर्शन के अलंकारशास्त्र पर तो अभी तक किसी ने ध्यान नहीं दिया है। लगता है दर्शन को लोगों ने पुरुष रूप में देखा है और साहित्य को स्त्री रूप में और ऐसा समझा जाता है कि स्त्रियों को सहज रूप में अलंकार से अलंकृत होने में कोई अजीब बात नहीं है जबकि यदि पुरुष ऐसा करे तो कुछ अजीब-सा लगेगा। पर यह तो काल विशेष की बात है, क्योंकि पहले तो पुरुष भी अलंकार धारण करते थे। लेकिन इस कल्पना को छोड़ भी दें, तो भी यह सवाल तो उठता ही है कि साहित्य की खोज क्या है और वह दर्शन की खोज से किस प्रकार भिन्न है और दूसरी ओर

क्या साहित्य अलंकार के बिना अपनी यात्रा नहीं कर सकता? क्या वह केवल ध्वनिमात्र नहीं हो सकता, जैसे आनन्दवर्द्धन ने कहने की कोशिश की थी। यह ध्वनि सत्यता की नहीं पर अर्थ की है और अर्थ की ही नहीं अर्थों के संघात और सम्बन्ध से जो पैदा होती है वह ध्वनि है। यह उस गूँज के समान है जो सुनने वाले के हृदय में प्रतिध्वनित होकर लौटती है और एक ऐसा संसार रचती है जो उन दोनों के बीच सृष्ट होता है। पर अगर अर्थों का संघात और सम्बन्ध ऐसी ध्वनि को जन्म देता है जो साहित्य का प्राण है तो क्या दर्शन जो अर्थों को खोजता है और प्रत्ययों के जाल द्वारा उनको पकड़ने की चेष्टा करता है उसमें क्या कोई ध्वनि का स्थान नहीं है। दर्शन में ध्वनि की बात दार्शनिकों ने भारतीय परम्परा में भी नहीं की है, पर नहीं की है इसलिए ऐसा तो नहीं है कि की ही नहीं जा सकती। शब्द तो दोनों के माध्यम हैं अर्थ का दोनों से रिश्ता है, अर्थों के सम्बन्ध भी दोनों में प्रधान हैं, फिर भेद कहाँ है इसी को खोजना दर्शन और साहित्य के सम्बन्धों को समझ पाना होगा।

शायद यह भेद उन अर्थों की अर्थवत्ता में ही निहित है जिसका उपयोग साहित्य और दर्शन दोनों ही करते हैं। दर्शन के लिए अर्थ प्रधानत: ज्ञानात्मक होते हैं, जबकि साहित्य के लिए उसका भाव पक्ष ही महत्त्व रखता है। यह बात काव्य में साफ तौर पर दिखाई देती है—उस काव्य में भी जिसमें अर्थ अपने ज्ञान रूप में प्रधान होता है। वहाँ तो ज्ञानात्मक अर्थ भी भावसृजन का साधन बनता है। इसके विपरीत दर्शन में अर्थ के भाव पक्ष ज्ञान के साधन रूप में ही स्वीकार होते हैं, और उनका प्रयोग भी अक्सर इसीलिए किया जाता है। दर्शन में इसलिए अर्थों के संघात से जो ध्वनि उत्पन्न होती है वह एक ज्ञानात्मक दृष्टि को जन्म देती है, जबकि साहित्य में उन्हीं अर्थों का संघात एक भावात्मक लय को सृष्ट करता है। ऐसा नहीं है कि इस भावात्मक लय में ज्ञान का कोई अंश ही नहीं है या यह ज्ञान से बिल्कुल अछूती है, लेकिन एक तो ज्ञान पक्ष हमेशा गौण होता है, दूसरी ओर वह केवल साधन मात्र ही होता है, और जैसे ही ज्ञान का पक्ष या ज्ञान की ध्वनि भारी होती है, वैसे ही हमें ऐसा लगता है कि यह साहित्य की कमजोरी है, अब वह साहित्य नहीं रहा है और केवल कुछ कहने या शिक्षा देने का माध्यम बन गया है। इसके विपरीत दर्शन में जैसे ही भाव पक्ष का प्राधान्य होने लगता है हमें ऐसा लगता है कि यह कुछ दर्शन की कमजोरी है और यह तो कुछ काव्य या उपन्यास की सी बात होने लगी है।

पर चाहे ज्ञान हो और चाहे भाव, दोनों ही मनुष्य की चेतना के अनिवार्य अंग हैं। और इसलिए मनुष्य अपने को साहित्य में भी उतना ही पाता है जितना दर्शन में। यह ठीक है कि अधिकतर मनुष्य विचार के सूक्ष्म स्तरों में रुचि कम लेते हैं, पर यही बात कुछ हद तक भाव के सूक्ष्म स्तरों पर भी लागू होती है। वह साहित्य जो अधिक सूक्ष्म भावजगत् की रचना करता है, मनुष्य को अपने ही सूक्ष्म से

सूक्ष्मतर भावों के प्रति जागरूक होने का निमंत्रण देता है, ऐसा साहित्य कम ही लोगों को पसंद आता है, क्योंकि उसे समझने के लिए कुछ कोशिश करनी पड़ती है और अधिकतर मनुष्य साहित्य के पास मनोरंजन के लिए जाते हैं न कि कुछ ऐसी चेष्टा करने के लिए जिसके बाद उनको भावजगत् के सूक्ष्मतर स्तरों में कुछ दृष्टि मिल सके। दर्शन के साथ यह बात उतनी सत्य नहीं है, क्योंकि दर्शन के पास आदमी 'मनोरंजन' के लिए नहीं जाता, वह तो उसके द्वारा अपने को और जगत् को 'समझने' की कोशिश करता है। और इसलिए अगर उसे कुछ बौद्धिक मेहनत करनी पड़े तो उससे कतराता नहीं है। फिर भी, यह उतना ही सच है कि साधारण आदमी ऐसे दर्शन को ही पसंद करता है जो उसे आसानी से समग्र दृष्टि दे सके और अपने को और संसार को इस प्रकार समझ सके कि उसे कुछ ऐसा लगे कि सब कुछ आकस्मिक ही नहीं है, जो कुछ है उसके पीछे कुछ ऐसी व्यवस्था है जो उससे गहरे रूप में सम्बन्ध रखती है, और उसका नियमन तो करती ही है पर साथ में उसको स्नेह भी प्रदान करती है और उसकी रक्षा और पालन भी। इसीलिए मनुष्य का मन यह सहज रूप में स्वीकार करता है कि कोई एक ऐसी चरम शक्ति है जिसका उससे गहरा सम्बन्ध है और जो उसे निरन्तर आश्वासन भी देती है और उस पर शासन भी करती है। इसी बात का अनन्त विस्तार दर्शन में हुआ है और दार्शनिकों ने इस सहज मान्यता को आधार देने की कोशिश की है, और चूँकि यह समस्या मानव मात्र की है इसलिए साहित्य की वे रचनाएँ जिन्होंने मनुष्य को युगों तक प्रभावित किया है, उनमें इस दार्शनिक पक्ष को इस प्रकार कथा के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है कि वह मनुष्य की चेतना को सहज रूप में सत्य लगे और उसका अभिन्न अंग बन जाये। भारतीय परम्परा में रामायण और महाभारत इसके उत्कृष्ट उदाहरण हैं पर अन्य संस्कृतियों के लिए भी यह उसी प्रकार सत्य है जितना भारतीय संस्कृति के बारे में। ये कथाएँ मनुष्य बार-बार पढ़ता है, सुनता है, दोहराता है क्योंकि इसमें कुछ ऐसा ध्वनित होता है जो उसकी चेतना को जगत् में जो कुछ भी व्याप्त है उससे सहज रूप में सम्बन्धित करता है और उसको आश्वस्त करता है कि जो दु:ख है, दर्द है, असह्य है वही सब कुछ नहीं है। उसका भी शायद कोई मूल्य है, मर्म है, जो उससे छिपा हुआ है पर कहीं है ज़रूर।

इस प्रकार से सम्पूर्ण जगत् और उसमें मानव सम्बन्धों को समझने की चेष्टा दर्शन का सदैव सतत् प्रयास रहा है, और इस प्रयास को भावात्मक रूप में प्रतिबिम्बित करने की साहित्य ने हमेशा कोशिश की है। परन्तु विचार-प्रधान होने के कारण दर्शन देश, काल और कार्य-कारण सम्बन्ध को जो सम्पूर्ण जगत् में परिलक्षित होते हैं, उन्हें नजरअंदाज नहीं कर सकता और इसलिए उसके सामने एक समस्या हमेशा रहती है कि देश और काल जो अनन्त दिखाई देते हैं उनका अतिक्रमण कैसे किया जाए और दूसरी ओर जो सारा संसार कार्य-कारण के नियमों से पूर्णरूपेण बँधा प्रतीत होता है उससे छुटकारा कैसे मिले। मनुष्य का

अपना जगत् पुरुषार्थ सिद्धि के लिए कर्म-स्वतंत्रता को माने बगैर सार्थक नहीं हो सकता। दूसरी ओर जड़ जगत् में कार्य-कारण सम्बन्ध का बोलबाला ही नहीं है, उसके अतिक्रमण की बात सोची ही नहीं जा सकती। यह ठीक है कि आज का विज्ञान उस अतिक्रमण की बात करता है परन्तु वह अतिक्रमण कोई मानव स्वतंत्रता जैसी किसी स्वतंत्रता के कारण नहीं है क्योंकि स्वतंत्रता किसी चेतना के अभाव में सोची ही नहीं जा सकती और फिर उसका सम्बन्ध उस सत्य से भी है जो मनुष्य की चेतना में 'पुरुषार्थ' का रूप लेता है। इसीलिए दर्शन की एक ओर जहाँ यह कोशिश होती है कि वह किसी ऐसे सत्य को पकड़े जो देश और काल से परे हो और जिसकी प्रक्रिया में कार्यकारण इस प्रकार व्याप्त नहीं है जिस प्रकार वह जड़ जगत् में दिखाई देता है, वहीं दूसरी ओर उसकी कोशिश यह भी होती है कि मानव जगत् में होने वाले कार्यकलापों का इस जड़ जगत् से और उससे भी परे जो देश कालातीत सत्य है, उससे क्या सम्बन्ध है। इस सब प्रयत्न में उसे अनेक ऐसी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है जिनको सुलझाना कोई आसान बात नहीं है, और इस सुलझाने की प्रक्रिया में अनेक ऐसी नई समस्याएँ उत्पन्न होती हैं जिनका निराकरण किए बगैर बुद्धि को शान्ति नहीं मिलती। बुद्धि की अपनी क्या कसौटी है और उसको क्या स्वीकार है और क्या नहीं यह बुद्धि के लिए एक स्वतंत्र प्रश्न बना रहता है जिसके बारे में वह कभी भी पूर्ण रूप से निश्चित नहीं हो पाती। हालांकि व्याघात का सिद्धान्त या यों कहें कि दो परस्पर विरोधी बातें एक साथ उसे कभी भी स्वीकार नहीं होती, लेकिन 'विरोध' क्या है यह कभी भी स्पष्ट नहीं होता। और सब संस्कृतियों में दर्शन का इतिहास इस रूप में देखा जा सकता है कि वह इस प्रयत्न में सतत् संलग्न है कि आखिर वह विरोध क्या है जिसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसके विपरीत साहित्य का ध्यान जड़ जगत् की ओर बहुत ही कम जाता है, वह तो उसके लिए केवल एक परिवेश का सा काम करता है। वह साधारणत: मानकर चलता है कि यह ठीक है कि पृथ्वी, आकाश, सागर, पहाड़, ऋतुओं का परिवर्तन, हरे-भरे मैदान, खेत और खलिहान, नदी और वृक्ष उसके उपादान अवश्य हैं पर वह इनका प्रयोग केवल मानव जगत् के संदर्भ में ही करता है। उसका ध्यान तो मनुष्य के बीच होने वाले निरन्तर अन्योन्याश्रित सम्बन्धों में रचित जगत् पर ही रहता है और उसके सम्बन्ध में भी वह अधिकतर उस घटनाक्रम से सम्बन्धित होता है जो मनुष्य की बीच भाव जगत् के कारण उत्पन्न होता है।

इन सम्बन्धों के उतार-चढ़ाव और इनके परस्पर आघात-प्रतिघात ही उसका ध्यान आकर्षित करते हैं, और एक तरह से देखें तो वह इनमें होने वाले ऐसे परिवर्तनों का चित्रण करता है जिन पर मानव का अपना कोई नियंत्रण नहीं दिखाई देता, कुछ होता रहता है और मनुष्य यह समझता है कि वास्तव में वह उसका किया हुआ है। पर परिस्थिति बदलती है, और अचानक मानवीय सम्बन्ध नई दिशा

लेते हैं। आज के दोस्त, कल के बेगाने हो जाते हैं और कभी-कभी तो दुश्मन भी। इन सब घटनाक्रमों के पीछे क्या कोई नियम है, इनकी तलाश भी कभी-कभी साहित्य करता दिखाई देता है और कभी उसको ऐसा लगता है कि यह सब आकस्मिक ही है। पर, साहित्य मानवीय सम्बन्धों के बारे में कोई भी दृष्टिकोण अपनाए, उसके पीछे एक ऐसी विश्व दृष्टि सदैव काम करती है जो उसे अपनी संस्कृति से मिली होती है और जिसके सृजन में दर्शन ने खास भूमिका निभाई है, क्योंकि दर्शन एक तरह से उस समग्र दृष्टि की ही खोज है जो मनुष्य के पुरुषार्थों को जगत् के परिप्रेक्ष्य में देखने की चेष्टा करती है और मनुष्य के देश-काल से सम्बन्धित सत्य को उस चरम सत्य से जोड़ने की कोशिश करती है जो देश-काल से परे है और जिसका आभास उसकी चेतना को यदा-कदा होता रहता है। चेतना में प्रतिबिम्बित इस सत्य को पकड़ने और समझने की चेष्टा मानव ने हमेशा की है और दर्शन बुद्धि के द्वारा मनुष्य के इस सतत् प्रयत्न को एक ऐसा स्थाई रूप देने की कोशिश करता है जिसके बारे में चर्चा भी हो सके और जो विचार का विषय भी बन सके।

साहित्य संस्कृति से पाई हुई इस धरोहर को प्राय: मानकर ही चलता है, लेकिन कभी-कभी वह स्वयं इसको अपने चित्रण का केन्द्र बिन्दु भी बनाता है। और जब वह ऐसा करता है तब एक ऐसे दार्शनिक साहित्य की रचना होती है जिसमें अगर दर्शन का पक्ष अधिक होता है तो साहित्यिक पक्ष कमजोर पड़ता है। दूसरी ओर अगर साहित्य का पक्ष अधिक बलशाली होता है तो दर्शन कमजोर पड़ता है। हालांकि साहित्य में ऐसी कृतियाँ अधिक नहीं मिलतीं लेकिन जब भी होती हैं सब का ध्यान आकृष्ट किए बगैर नहीं रहतीं। एक कृति में दोनों का सफल समन्वय कठिन तो है ही, लेकिन मनुष्य की चिरन्तन दार्शनिक साधना को साहित्य के माध्यम से चित्रित करने की चेष्टा कुछ साहित्यकारों ने की है। वहीं दूसरी ओर साहित्य और कला स्वयं दार्शनिक चिन्तन का विषय रहे हैं। और दार्शनिक चिन्तन ने मनुष्य के अनेक अन्य पुरुषार्थों के साथ उस पुरुषार्थ की जो साहित्य और कला के सृजन में परिलक्षित होता है, के साथ सम्बन्धित करने की चेष्टा की है। मनुष्य स्वयं भी एक सृष्टा है, यह बात दार्शनिकों ने अधिकतर कर्म के सम्बन्ध में ही देखी है, कला जगत् के संदर्भ में नहीं। पर यह उनकी कमजोरी ही मानी जाएगी, क्योंकि कर्म के क्षेत्र में सृजनात्मकता जिन नियमों में बँधी रहती है वह कला के क्षेत्र में मनुष्य की रचनात्मकता को उतना बाँधती नहीं है और इसलिए वहाँ अधिक स्वतंत्रता दिखाई देती है। कर्म का क्षेत्र तो जहाँ एक ओर भौतिक जगत् के नियमों से बँधा होता है वहीं दूसरी ओर कायदे-कानून और अच्छे-बुरे की भावना से भी। साहित्य और कला के क्षेत्र में यह बंधन उतना नहीं है, हालांकि उनकी छाया थोड़ी-बहुत यहाँ भी पड़ती रहती है।

साहित्य और दर्शन के सम्बन्ध चेतना के इन्हीं आयामों से जुड़े हैं और इनमें जो आपसी तनाव है वे इस सम्बन्ध में परिलक्षित होते रहते हैं। साहित्य दर्शन को करीब-करीब बेकार की बौद्धिक प्रक्रिया मानता है जो किसी सवाल को सुलझाने के बजाय उलझाता ज्यादा है और जो ऐसी समस्याओं में उलझा रहता है जो किसी अन्य को 'समस्याएँ' ही नहीं लगतीं। दूसरी ओर शुद्ध दर्शन के प्रेमी साहित्य को या तो वक्त गुजारने की चीज़ मानते हैं या चेतना के उस स्तर की जो बिम्ब में ही उलझ कर रह गई है और जिसे प्रत्यय का पता ही नहीं है। कुछ ऐसे साहित्यकार ज़रूर हैं जो फलसफे की दुनिया को समझते हैं। अगर हिन्दी के लेखकों को लें तो शायद आज के लिखने वालों में कृष्ण बलदेव वैद से ज्यादा दार्शनिक लिखने वाला, 'दार्शनिक' कथाकार कोई नहीं होगा। उनकी 'दर्द ला दवा' या 'काला कोलाज' इसके उदाहरण हैं। पहला तो दार्शनिक साहित्य का सबसे उत्कृष्ट लेखन है जो मैंने पढ़ा है, पर इसीलिए शायद साहित्यकारों में उस उपन्यास की कोई विशेष चर्चा नहीं है। ज्योत्स्ना मिलन का 'अ-अस्तु क' दार्शनिक उपन्यास एक अन्य उदाहरण है जहाँ सहज रूप में प्रश्न करने वाली दार्शनिक चेतना हर सफे पर दिखाई देती है, लेकिन उसको एक सफल साहित्यिक रचना कहना मुश्किल होगा, हालांकि इसके अनेक अंश अपने आप में सफल कृति के रूप में दिखाई देते हैं। पुराने लेखकों में प्रसाद जी की 'कामायनी' प्रसिद्ध है जहाँ इड़ा का वर्णन ही बुद्धि के प्रतीक के रूप में किया गया है और उसके चित्रण की पहली लाइन ही दर्शन को ऐसे साकार रूप में अभिव्यक्त करती है जो अन्य कहीं दुर्लभ है। 'अल्केंं बिखरीं ज्यों तर्क-जाल', बुद्धि का इससे अच्छा वर्णन और क्या हो सकता है, वैसे तो इसके बाद का सारा ही वर्णन बुद्धि का वर्णन है। श्रद्धा और इड़ा के बीच मनु का आकर्षण और उससे उत्पन्न संघर्ष मनुष्य की स्थिति को काव्य के माध्यम से चित्रित करने की चेष्टा है। पर प्रसाद का झुकाव श्रद्धा की ओर स्पष्ट है, बुद्धि की ओर नहीं। साहित्य से उदाहरण और भी दिये जा सकते हैं। निर्मल वर्मा की कहानी 'कौए और काला पानी' अध्यात्म की समस्या का एक नए रूप में चित्रण करती है हालांकि हिन्दी के जाने-माने समीक्षक ने उसमें केवल 'बाबावाद' को ही देखा है जिसकी उसमें गंध तक नहीं है। रमेशचन्द शाह के कुछ उपन्यासों में श्री अरविन्द और गाँधी को लेकर दार्शनिक चर्चा की गई है। श्री अरविन्द, गाँधी, रामकृष्ण और विवेकानन्द को लेकर दार्शनिक समस्याएँ उठाने की चेष्टा है, पर उतने केन्द्रित रूप में नहीं जितनी वैद के उपन्यास, निर्मल की कहानी और ज्योत्स्ना के उपन्यासों में है। दूसरी ओर वे दार्शनिक जिनके विचार का केन्द्र बिन्दु साहित्य रहा है असल में बहुत कम हैं। परम्परा में अभिनवगुप्त का नाम लिया जाता है जिन्होंने चेतना का अपना स्वरूप ही विमर्श माना है, पर अभिनवगुप्त के दर्शन के इस पक्ष का भारतीय दार्शनिक परम्परा पर कोई विशेष असर दिखाई नहीं देता। यह ठीक है 'माया' और 'लीला' के विचार साहित्य जगत् से जोड़े जा सकते हैं, पर दार्शनिकों ने ऐसा किया नहीं है। लेकिन 'किया नहीं है तो किया भी नहीं जा

सकता', ऐसा तो नहीं कहा जा सकता। दर्शन और साहित्य में रुचि लेने वाले लोग अगर आपस में ज्यादा मिल बैठकर बातचीत करें तो शायद कुछ ऐसी नई रचनाएँ जन्म ले सकती हैं जिनमें एक-दूसरे का असर अधिक परिलक्षति हो। पंतजी ने भी, श्री अरविन्द के प्रभाव में कुछ दार्शनिक कविताएँ लिखी थीं। 'बिखरादी किसने स्वर्ण धूलि जगती के इस मरुथल में' आदि-आदि। और निर्गुण सम्प्रदाय के कवियों ने तो दार्शनिक बातों को अपनी कृतियों में अनेक तरह से कहा है, पर इन सबको 'दार्शनिक साहित्य' नहीं कहा जा सकता, हालांकि इसमें दर्शन प्रचुर मात्रा में मौजूद है। दर्शन इनका विषय अवश्य है, पर इनसे प्राप्त 'दर्शन-साहित्य' के उदाहरण तो वास्तव में बहुत कम हैं; अगर कुछ हैं, तो वे सबको विदित हैं। कबीर और नानक का नाम इनमें अग्रणी है, भारत की अनेक भाषाओं में इनके उदाहरण आसानी से मिलते हैं, और उन्होंने ही भारत की दार्शनिक परम्परा को साहित्य के माध्यम से जीवित रखा है।

❑

भारतीय संस्कृति और कला के कुछ आशय

'कला', जैसा आम तौर पर हम इस धारणा को समझते हैं, उसमें एक मौलिक दोष है। 'कला' का मतलब इधर चित्रकला, नृत्य, स्थापत्य वगैरह तक ही सीमित हो गया है, पर पूरी संस्कृति ही एक 'कला' है। 'कला' वह है जो मनुष्य की एक सृष्टि है। मनुष्य को एक 'सृष्टा' के रूप में देखिए। वह क्या-क्या सृष्ट नहीं करता? वह विविध आयामों में अनेक जगतों की सृष्टि करता है और उनमें रहता है। वे ही जगत् उसे सार्थक लगते हैं। खेल को हम कला क्यों नहीं कहते? खेल की भी अपनी एक अलग दुनिया है। उसी दुनिया में एक खिलाड़ी रहता है, उसके अनेकानेक दर्शक भी होते हैं। खेल एक ऐसे अजीब जगत् की सृष्टि है जिसके बारे में आप सोच ही नहीं सकते। पर हजारों लोग उसमें रहते हैं, और वे खेल में ही अपने जीवन की सार्थकता पाते हैं।

जीना स्वयं एक कला है। आप कैसे जीते हैं? कोई आप से मिलकर प्रसन्न होता है या दु:खी। तुलसीदास जी ने एक जगह कहा है—"बिछुरत एक प्राण हर लेही। मिलत एक दारुण दुख देही।" तो ये कला का एक व्यापक संदर्भ है और मैं समझता हूँ, प्रारम्भ में इसकी ओर इशारा करना ज़रूरी है।

यहाँ से हम अगर अपनी बात प्रारम्भ करें तो संस्कृति के आशयों को शायद कुछ अधिक समझ पायेंगे। संस्कृति की बात करते हुए मैं दो बातें आप लोगों के सामने रखना चाहता हूँ। पहला तो ये कि संस्कृति कोई भौगोलिक चीज़ नहीं है। जब हम 'भारतीय संस्कृति' कहते हैं, तो उसका अर्थ क्या है।

भारत एक देश है। और देश ऐसा स्थान है, जहाँ देश-काल में हर चीज़ का जन्म होता है। जो भी चीज़ उत्पन्न होती है—वह एक देश-काल में ही उत्पन्न और स्थित होती है। लेकिन वह वस्तु अपने जन्मस्थान या उसके उत्पत्ति स्थान तक ही सीमित नहीं होती। फर्ज़ कीजिए अगर आप यह मानें कि 'भारतीय संस्कृति' या 'भारतीय' शब्द किसी भौगोलिक सत्ता का द्योतक है तो आपको अनेकानेक कठिनाइयाँ होंगी। भारत की आज की (भौगोलिक) सीमाएँ सन् सैंतालीस से पहले तो नहीं थीं। भौगोलिक सीमाएँ हर इतिहास काल में घटती बढ़ती रहती हैं। तो पहली बात तो यह है कि संस्कृति कोई भौगोलिक चीज नहीं है।